श्रीदेवनारायण शर्मा
एम० ए०, साहित्यरत्न,
रिसर्च स्कॉलर, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, मुजफ्फरपुर, विहार.

हिंदू तथा जैनसाधु-परम्परा एवं आचार

यह हमारी राष्ट्रीय विशेषता है कि जब भी हम किसी वस्तु के इतिहास का अन्वेषण करते हैं, तो उसके मूल-स्रोत की जानकारी के लिये वेदों को अवश्य टटोलते हैं. और यह ठीक भी है क्योंकि वेदों में बीजरूप में जो चिंतन है उसका सम्यक् विकास आगे के साहित्य में मिलता है. वस्तुतः यही बात साधु-परम्परा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है. यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा,पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वैदिक ऋषियों ने अधिक नहीं सोचा था, किन्तु इनका विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ-सा लगता है. आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है, जो मरणोपरान्त परलोक को जाती है, सिद्धान्त का आभास **वैदिक ऋचाओं**[1] में मिलता है. यद्यपि वेदों का वातावरण आनन्द और उल्लास का है, उसमें भय अथवा शोक की छाया नहीं है. किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि **वैदिक जनता**[2] इसी संसार पर भूली हुई थी और उसे सांसारिक जीवनोंपरान्त आनेवाले पारलौकिक जीवन का ध्यान ही नहीं था. ध्यान था और **ऋषिओं**[3] ने कभी-कभी इस रहस्य पर विचार भी किया है.

पर इसके बाद भी वेदों से यही स्पष्ट होता है कि उस समय के आर्यों में श्रेय की अपेक्षा **प्रेय की भावना ही अधिक है प्रबल थी.**[4] प्रेय को छोड़कर श्रेय की ओर बढ़ने की आतुरता उपनिषदों के समय जगी, जब मोक्ष के सामने गृहस्थ जीवन निस्सार समझा जाने लगा एवं लोग, जीवन से आनन्द लेने के बदले संन्यास[5] लेने लगे. उपनिषदों ने मोक्ष का संसार को समाधान बतलाया और यह कहा कि मोक्ष का मार्ग ज्ञान है. इस युग में ज्ञान की इतनी महिमा बढ़ी कि वर्णाश्रम और यज्ञवाद, दोनों बहुत पीछे छूट गये.

चूंकि मोक्ष का सिद्धान्त निरुपित करने में बार-बार सांसारिक जीवन की दुःखपूर्णता की चर्चा की गयी, इस कारण समाज में एक तरह का निराशावाद फैलने लगा और लोग, जीवन में उस उत्साह को खोने लगे, जो वेदकालीन भारत-वासियों की विशेषता थी. वैदिक-सभ्यता, कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो सोचता कम, काम अधिक करता था. जिसे नरक की चिन्ता नहीं, सदा स्वर्ग का ही लोभ था. जो जीवन को दुःखों का आगार नहीं, सुख और आनन्द का साधन मानता था. मगर उपनिषदों ने मानव-जीवन के अनेक नये पट उघाड़ दिये और वह उनके सवालों के चक्कर में पड़ गया. यह सृष्टि क्या है ? जीव सान्त है या अनन्त ? यह जन्म के पहले क्या था ? जीवन की स्थिति मरने के बाद क्या होगी ? क्या जीवन मरने के साथ ही समाप्त हो जायेगा ? या मरने के बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा ? अगर हाँ तो इसका

---

१. ऋग्वेद–१, १६४, २०-३७-३८.
२. यजुर्वेद—३१।१८.
३. -वही—११।५.
४. अथर्ववेद–१६।५२।१, यजु० पुरुष सूक्त २२.
५. ऋग्वेद–३५०८।६।२८

प्रमाण क्या है ? इन प्रश्नों ने मानव को स्थूल एवं प्रत्यक्ष से सूक्ष्म तथा अनुमान की ओर अग्रसर होने को बाध्य किया. और वे ऐसे धर्म की खोज में लगे जो भोगप्रधान नहीं, योगप्रधान हो, वैराग्य-प्रधान हो. सारांशतः हम यहीं से साधु-परम्परा का सूत्रपात होता हुआ देखते है.

वैदिकदर्शन में वैराग्य की मनोभावना का आरम्भ उपनिषदों में ही होता है और वह भावना बौद्ध तथा जैनदर्शनों में अधिक प्रबल होती हुई दीखती है. उपनिषदों से आत्म-विद्या और तपश्चर्या की जो परिपाटी चली उससे प्रेरित होकर लोग अधिक संख्या में विरागी होने लगे. इसका कारण यह था कि जो लोग यह समझते थे कि उन्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया तथा वे जीवन्मुक्त हो गये हैं या जीवन्मुक्ति की राह पर हैं, वे संसार को छोड़कर इसलिए संन्यासी या विरागी हो जाते थे कि कहीं गृहस्थाश्रम में रहने से वे इस अवस्था से पतित न हो जाएं. ये संन्यासी और परिव्राजक सर्वत्र घूमते रहते थे. पेड़ों के नीचे अथवा कुटियों में उनका सोना होता था और वनों में तपश्चर्या. इन साधुओं की विशेषता यही थी कि यज्ञ में इनका विश्वास नहीं था, कर्मकाण्ड को वे नहीं मानते थे और ऐहिक सुखों को वे मनुष्य का हीन उद्देश्य बतलाते थे. उनका लक्ष्य मनुष्य के भीतर वैराग्य जगाकर उसे ईश्वर की ओर ले जाना था. यद्यपि यह संन्यास मार्ग वैदिककाल में ही प्रचलित हो चुका था, तो भी प्रायः वह कर्मकाण्ड से आगे कदम नहीं बढ़ा सका था. स्मृति आदि ग्रन्थों में संन्यास लेने की बात कही गयी है, परन्तु उसमें प्रधानतः **पूर्वाश्रमों के कर्त्तव्यपालन**[१] का उपदेश दिया ही गया. परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि जो कर्मकाण्ड अथवा यज्ञवाद इतनी प्रबलता से देश में प्रचलित था और जिसका समर्थक प्रभावशाली पुरोहितवर्ग था, उसने भी इस उपनिषद्कालीन निवृत्ति-प्रधान धर्म के सामने घुटने टेक दिये. इस आश्चर्यमय परिवर्तन को देखकर यह स्पष्ट कहना पड़ जाता है कि उसके अपदस्थ हो जाने के कुछ ऐसे प्रबल कारण अवश्य उपस्थित हुए, जिन्होंने उसके मानने वालों पर तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न की. वास्तव में इसमें से पहला एवं प्रधान कारण जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रचार-प्रसार है. क्योंकि इन्हीं दोनों धर्मों ने प्रायः चारों वर्णों के लिए संन्यासमार्ग का द्वार खोल दिया. पर, इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि भगवान् महावीर तथा बुद्ध के पूर्व इस देश में वैरागी अथवा संन्यासी थे, ही नहीं. थे, पर संन्यास अथवा वैराग्य-ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण-वर्ग को ही था, अन्य वर्गों को नहीं. इस कारण ये वैरागी और संन्यासी इने गिने ही देखने को मिलते थे. लेकिन इन दोनों श्रमण-सम्प्रदायों ने अपने आचारों एवं निवृत्ति प्रधान उपदेशों से इस प्रकार देश की जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया कि पुरोहित-धर्म जो चिरकाल से पोषित एवं सत्कृत होने के कारण दृढ़मूल हो चुका था, उसकी जड़ सर्वथा हिल गयी.

वस्तुतः यह श्रमण वर्ग भी ब्राह्मण वर्ग के साथ ही इस देश में विद्यमान रहा है. भगवान् ऋषभदेव को जिन्हें श्रीमद्-भागवत में भगवदंशावतार माना गया है, जैनलोग अपना आदि तीर्थंकर मानते हैं. बौद्धों के कथानुसार सिद्धार्थ गौतम वास्तव में अन्तिम बुद्ध हैं और त्रेतायुग के दाशरथी राम भगवान् बुद्ध के एक अवतार समझे जाते हैं. हिन्दुओं के प्राचीन-ग्रन्थों में यत्र-तत्र जैनों और बौद्धों के प्राचीन अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं. इसलिए यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि ब्राह्मण और श्रमण-सम्प्रदायों में कौन किसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन है. वेद में वेदनिन्दकों, नास्तिकों और यज्ञ में विघ्न डालने वाले दृश्यादृश्य सभी तरह के प्राणियों के विरुद्ध मन्त्र और निराकरण के साधन हैं. इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन दोनों सम्दाओं का रूप चाहे जो भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त दोनों मतो के लोग वेद-मन्त्रों के रचना-काल से पहले के ही है.

ये श्रमण अवैदिक होते थे. ब्राह्मण यज्ञपात्र को मानते थे, श्रमण उन्हें अनुपयोगी समझते थे. सभी ब्राह्मण आस्तिक थे, किन्तु श्रमणों के भीतर आस्तिक और नास्तिक दोनों ही प्रकार के लोग थे. अनुमान यह है कि योग और कृच्छ्राचार की परम्परा इस देश में आर्यों के आगमन के पूर्व से ही विद्यमान थी और इस परम्परा का वर्द्धन एवं पोषण संभवतया

---

[१] मनु० अध्या० ६।१।२

यह श्रमण-वर्ग ही करता आ रहा था. किन्तु जबतक यज्ञपात्र की प्रधानता रही. श्रमणों का प्रभाव सीमित रहा. उनका प्रभाव तबतक बढ़ा जब समाज में प्रबल वेग से मोक्ष का सिद्धान्त प्रचलित हुआ और लोग गृहस्थ की अपेक्षा संन्यासी को अधिक श्रेष्ठ समझने लगे.

इसी प्रकार मूर्ति-पूजक वैरागियों की भी परम्परा आती है. यद्यपि उपनिषदों में मूर्तिपूजा का प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु महामहोपाध्याय काणे विरचित धर्मशास्त्रों के इतिहास से ज्ञात होता है कि ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व समाज में ऐसे पुरोहित थे, जो मंदिरों में प्रतिमा-पूजन करवाते थे. इस आधार पर यह स्वीकार कर लिया जा सकता है कि वैरागी कहलाने वाले भक्त-साधुओं की परम्परा का आरम्भ भी ई०पूर्व०५०० के लगभग हो चुका था. इस तरह हम भारत की साधु-परम्परा का सामान्य अवलोकन कर लेने के बाद अब यहाँ उनके आचार का भी स्थूल रूप से दिग्दर्शन कर सकते हैं. वस्तुतः यह आचार शब्द धर्म का ही समानार्थक शब्द माना जाता रहा है. मनु ने दशकं-धर्म-लक्षणम् के द्वारा आचार को ही विशेष स्पष्ट करने की चेष्टा की है. जैन धर्म और बौद्धधर्म में तो इसका महत्त्व और भी अधिक है. वहाँ यह आचार विविध रूपों में निरूपित किया गया है. अहिंसा, निष्कामता, मनोविजय, आत्म-संयम जैसी सदाचरण-सम्बन्धी बातों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है. क्षमा, शील, प्रज्ञा, मैत्री, सत्य, वीर्य आदि बोधिसत्त्व के आदर्श गुण माने गये हैं. इसी तरह थोड़े से शब्द भेद के साथ प्रायः इन्हीं को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान के नाम देकर योग-दर्शन ने भी अपने यहाँ यम-नियमों के रूप में स्थान दे दिया है. स्मृतियों ने तो आचारः परमोधर्मः इस कथन के द्वारा धर्म का स्पष्ट अर्थ ही आचार प्रधान कर्म निर्धारित कर दिया है. हम देखते हैं कि जैनधर्म में भी 'अहिंसा परमो धर्मः' इस कथन के द्वारा अहिंसा प्रधान कर्म को ही **धर्म कहा गया है.**[1]

इस तरह इस निष्कर्ष पर हम आसानी से पहुँच सकते हैं कि अहिंसा अथवा आचार प्रधान कर्म को ही भारतीय परम्परा में धर्म की संज्ञा दी गई है. जैनधर्म में अहिंसा के अतिरिक्त जो सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये चार अन्य व्रतों के भी नाम लिये गये हैं, वस्तुतः वे स्वतंत्र अथवा पृथक् सत्ता वाले नहीं हैं, अपितु अहिंसा के ही पूरक है. इसे यों भी कहा जा सकता है कि अहिंसा के पूर्ण-पालन के लिए ही इन व्रतों की साधना आवश्यक मानी गयी है.

अब यह सिद्ध हो जाने के बाद कि आचार ही धर्म है अथवा आचार को ही धर्म कहते हैं, यह समझने में भ्रम का कोई स्थान नहीं रह जाता कि किसी व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र के जीवन में आचार का कितना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है. हिन्दू और जैन दोनों ही परम्पराओं में जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह इन पंचव्रतों को ही धर्म का मूल स्तम्भ माना गया है. इन व्रतों के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनके द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियों का नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया है, जो समाज में मुख्यरूप से वैर एवं विरोध का कारण हुआ करती हैं. दूसरी यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम-रीति से कुछ निषेधात्मक नियमों के द्वारा ही किया जा सकता है. हम देखते हैं कि व्यक्ति जो क्रियाएँ करता है, वे मूलतः स्वार्थं से प्रेरित होती हैं. अब क्रियाओं में कौन सी क्रिया अच्छी है और कौन सी बुरी यह किसी मानदण्ड के निश्चित होने पर ही कहा जा सकता है. हम यहाँ उसके मानदण्ड के रूप में स्पष्टतः रख सकते हैं—समाज का हित एवं शान्ति की रक्षा. हिंसा ,असत्य, चोरी,कुशील और परिग्रह ये सभी सामाजिक पाप हैं. व्यक्ति जितने ही अंश में इनका परित्याग करेगा, उतनाही वह सभ्य समाज-हितैषी माना जायेगा और इस प्रकार जितने व्यक्ति इन व्रतों का पालन करेंगे उसी अनुपात में समाजशुद्ध, सुखी और प्रगतिशील हो सकेगा.

---

[1] चरितं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह,विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।। प्र० स्त० कु० क० ।। १७.
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो,
देवा वि त्तं न संति जस्स धम्मे सया मणो ।—दशवैकालिक सूत्र । अ० १, गा० १.

यहाँ धर्माचार्यों ने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सबके लिये सब अवस्थाओं में इन व्रतों का पूर्ण परिपालन संभव नहीं है. अतएव जैन-धर्म में तो इन व्रतों के दो स्तर स्थापित किये गये—अणु और महत् अर्थात् एकदेश और सर्वदेश. पश्चात् काल में आवश्यकतानुसार इनके अतिचार भी निर्धारित हुए, जिससे सच्चे अर्थ में (भावतः) इन व्रतों का पालन हो सके. इस प्रकार व्रतों के अणु और महत् इन दो विभागों के द्वारा जैनधर्म में गृहस्थ और साधु-आचार के बीच भेद प्रकट करनेवाली स्पष्ट रेखा खींच दी गयी. प्रायः इसी तरह की मिलती जुलती व्यवस्था हम हिन्दूधर्म में भी पाते हैं जो व्यक्ति के जीवन व यथाक्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-धारण की चतुर्विध आश्रम-व्यवस्था से प्रमाणित है. वस्तुतः व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम से जिस जीवन का प्रारम्भ करता है उसकी परिसमाप्ति संन्यासाश्रम में ही जाकर होती है, जबकि साधक उस गृह तथा परिवार को भी, जो उसके बाल्य और युवा दोनों अवस्थाओं में आश्रय एवं आकर्षण के स्थान रहे हैं, बन्धन का कारण समझता हुआ छोड़कर चल पड़ता है और पुनः उसकी ओर लौटकर देखता तक नहीं. वस्तुतः यह मानव-जीवन का एक महान् परिवर्तन एवं चरम साधना है. ऐसे साधु-आचार पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथ भी भारतीय साहित्य के अंतर्गत अधिकांश एवं शीर्ष-स्थानीय माने जाते हैं.

यह साधु आचार विषयक साहित्य बहुत विशाल है. इसकी विशालता का प्रधान कारण यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही धर्म एवं अध्यात्मचर्चा का प्रधान केन्द्र इस भारत में प्रायः जितने भी धार्मिक ग्रन्थ लिखे गए, उनमें शायद ही कोई ग्रंथ बचा हो जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से साधु-आचार से सम्बद्ध न हो. प्रायः इन सभी ग्रंथों में मानव के चरित्र को निर्मल एवं उज्जवल बनाने के यथासंभव सभी प्रयत्न किये गए हैं, जिनमें उद्योतमान मणि-दीप के रूप में अनिवार्यः साधु-आचार भी वर्णित है. इस प्रकार भारतीय परम्परा में जो भी साहित्य धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत आता है, उसे हम प्रायः साधु-आचार विषयक भी मान सकते हैं, जिनकी संख्या सहस्त्रावधि ग्रंथों से भी कहीं अधिक है. पर यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि यह साहित्य किन्हीं एक या दो पन्थों अथवा सम्प्रदायों की सम्पत्ति हो,इनके अन्तर्गत तो सैकड़ों पन्थ और सम्प्रदाय आ जाते हैं. किन्तु यहाँ निबन्ध की सीमा को देखते हुए मात्र हिन्दू और जैन साधु-आचार का सामान्य परिचय ही अभीष्ट है और इस में भी हिन्दूपरम्परा से प्रतिनिधि ग्रंथ के रूप में मनुस्मृति और जैन परम्परा से मूलाचार इन दो को ही ग्रहण किया गया है, वह भी स्थूल-दृष्टि से सूक्ष्म-दृष्टि से नहीं. क्योंकि 'अरथ अमित अरु आखर थोरे' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले इन धर्म ग्रंथों का सूक्ष्म विवेचन स्वतः एक महान् साहित्य रचे जाने की अपेक्षा रखता है.

मनुस्मृति और साधु-आचार

मनुस्मृति में साधु-आचार का वर्णन वैदिक एवं वर्णाश्रम परम्परा पर आधारित है. मनु ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमों का क्रमानुसार पालन पर जोर देते हुए साधु के वानप्रस्थी और संन्यासी नामके दो विभाग किये हैं. यही कारण है कि वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व स्नातक द्विज के लिये उन्होंने विधिवत् **गृहस्थाश्रमी** होना आवश्यक बताया है. इतना ही नहीं, मनु के मत से गृहस्थ जब **अतिवृद्ध हो जाए**, उनकी त्वचा शिथिल पड़ जाय, उसके बाल जब सफेद दिखने लगें और जब वह पौत्रवान् हो जाए तब सांसारिक विषयों से स्वभावतः विरत हुआ—वह वन का आश्रय ग्रहण करे.

वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर लेने के बाद, साधक ग्राम्य आचार एवं उपकरणों का भी **परित्याग** कर दे. पत्नी की इच्छानुसार ही, वह उसे अपने साथ लेले अथवा पुत्र के संरक्षण में ही रख दे. पर, वन में वानप्रस्थी श्रोत अग्नि तथा उससे सम्बन्धित साधन सुक, सुवा, आदि के साथ ही निवास करे. वानप्रस्थी के लिये मुनिनिमित्तक अन्नों एवं वन में उत्पन्न पवित्र शाक, मूल, फलादि से गृहस्थों के लिये विहित **पंचमहायज्ञों** का पालन करना मनु ने आवश्यक बतलाया है.

---

१. देखिये मनु० अध्या ६.

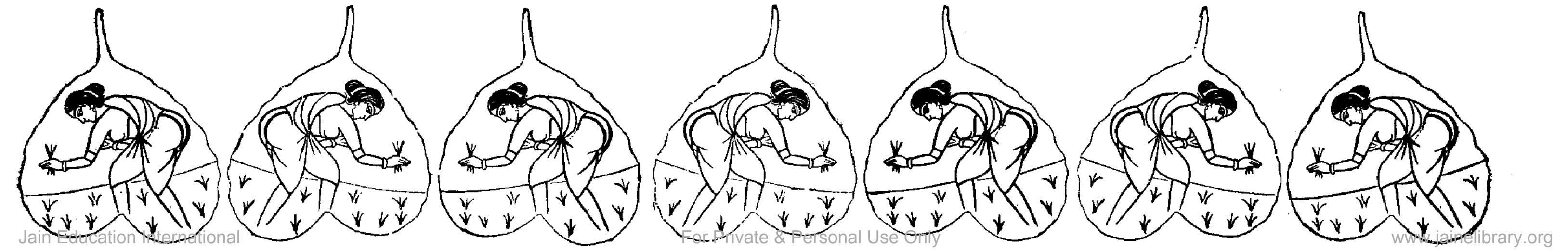

मुनि की वेश-भूषा एवं रूप के सम्बन्ध में भी मनु के विचार बड़े स्पष्ट हैं, उनकी राय में मुनि चाहे तो मृगचर्म धारण करे अथवा **वस्त्रखण्ड**, पर उसे जटा, दाढ़ी, मूंछ एवं नख आदि रखने ही हैं.

मुनि अपने भोजन में से यथाशक्ति वलि तथा भिक्षा प्रदान करे एवं आश्रम में आये हुए अतिथियों की जल, कंद, मूल, फलादि से **अर्चना** भी करे. तपस्वी को नित्यवेदाभ्यास, दानशीलता, निर्लोभ एवं **सर्वहित में रत रहते** हुए अमावश्या, पूर्णिमा आदि पर्वों में शास्त्रानुसार किये जाने वाले यज्ञों का भी सम्पादन करना चाहिए.उस मुनि को वन में उत्पन्न नीवार आदि से निर्मित यज्ञ के योग्य हवि को देवताओं को अर्पित कर शेष **स्वयंकृत लवण** के साथ ग्रहण करना चाहिए. उसके लिये शहद, मांस, तथा भूमि में उत्पन्न पुष्प आदि **सभी त्याज्य** हैं. मनु ने मुनिको आश्विनमास में सभी पूर्व संचित धान्यों शाक-मूल-फलों, यहां तक कि शरीर में धारण किये गये **जीर्ण-वस्त्रखण्ड** को भी छोड़ देने का आदेश दिया है. अफालकृष्ट भूमि के धान्य ही उनकी दृष्टि में तपस्वी के लिये ग्राह्य हैं. फालकृष्ट भूमि से उत्पन्न अन्न वनान्तर्गत का भी, यहां तक कि उत्सृष्ट भी ग्राह्य नहीं है. भले ही इसके फलस्वरूप मुनि को भूखा ही क्यों न रह जाना पड़े. सामर्थ्य के अनुसार प्राप्त अन्न को भी रात्रि अथवा दिन के चतुर्थ अथवा अष्टकाल में ही वानप्रस्थी ग्रहण करे. यहां अन्य कालों का निषेध किया गया है. तपस्वी उस अन्न को भी कृष्णपक्ष में एक-एक पिण्ड घटाता हुआ एवं शुक्लपक्ष में एक-एक पिण्ड बढ़ाता हुआ ग्रहण कर चान्द्रायणव्रत के द्वारा जीवन-यापन करे. इसके विकल्प में कालपक्व तथा वृक्ष से गिरे हुए फल के खाने की व्यवस्था है. वानप्रस्थी को जीवन धारण के योग्य भिक्षा वानप्रस्थ ब्राह्मणों से अथवा वनवासी ग्रहस्थ ब्राह्मणों से अथवा उपर्युक्त दोनों के अभाव में ग्रामवासियों से भी ग्रहण करनी चाहिए. पर साथ ही, यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि वह भिक्षा भी किसी के पात्र में नहीं अपितु पत्ते के दोने में, कपाल खण्ड में अथवा हाथों में ही आठ ग्रास लेनी चाहिए.

यहां जिस प्रकार आहार ग्रहण करने आदि के संबंध के कठोर नियम मनु ने बताये हैं, उसी प्रकार मुनि की दिनचर्या भी सुकर नहीं गिनायी है. तपस्वी के लिये भूमि पर लौटते हुए चलना, पैरों के अग्रभाग से दिन भर खड़ा रहना, संध्या, प्रातः एवं मध्याह्न में स्नान करना तथा इनसे भी बढ़कर ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि के बीच, वर्षा में खुले आकाश के नीचे एवं हेमन्त ऋतु में आर्द्रवस्त्र धारण कर तप वृद्धि करने का विधान है. इसके बाद भी तीनों कालों में स्नान-क्रियादि से निवृत्त होकर देवता, ऋषि एवं पितरों का तर्पण व अन्यान्य उग्रतर व्रतों का पालन करते हुए अपने शरीर को कृश बनाना यह भी तपस्वी का धर्म बताया गया है.

इस प्रकार इन नियमों का तथा शास्त्रोक्त अन्य नियमों का भी पालन करते हुए मुनि की विद्या, तप आदि की वृद्धि शरीर की शुद्धि एवं ब्रह्मत्व की सिद्धि के लिये उपनिषदों में पढ़ी गयी विविध श्रुतियों का अभ्यास करना चाहिए. असाध्य रोगों से आक्रान्त हो जाने की स्थिति में तपस्वी को शरीर निपातपर्यन्त जल तथा पवन का आहार करते हुए योगनिष्ठ होकर ईशान-दिशा की ओर आगे बढ़ते चला जाना चाहिए, क्यों कि इस प्रकार शोकभय रहित शरीर-परित्याग करने वाला ही मोक्ष का अधिकारी होता है.

उपर्युक्त प्रकार से वानप्रस्थी तपस्वी के आचार का वर्णन करने के पश्चात् मनु ने परिव्राजक साधुओं का आचार बतलाया है. वस्तुतः यह जीवन का अंतिम पहलू है, जिसके पश्चात् जीवन में और कुछ करने को नहीं रह जाता. यही स्थिति वेदान्तियों के शब्दों में सोऽहमस्मि की अवस्था मानी जाती है, जबकि वानप्रस्थी मुनि गृह का पूर्ण परित्याग कर पवित्र दण्ड, कमण्डलु आदि के साथ पूर्णकाम एवं निरपेक्ष रूप से संन्यास धारण कर लेता है और अनग्नि एवं अनिकेत होकर मात्र भिक्षा के लिये ही ग्राम की शरण लेता है और अन्यथा नहीं. वह इस अवस्था में शरीर की उपेक्षा करता हुआ स्थिर-बुद्धि होकर ब्रह्म चिंतन में एकनिष्ठ भाव से अपने भिक्षापात्र के रूप में कपाल, निवास के लिये वृक्ष की छाया एवं शरीर आवेष्टन के लिये जीर्णवस्त्र धारण कर लेता है. साथ ही वह ब्रह्म-बुद्ध समलोष्टाश्मकांचन की भावना से युक्त होता हुआ पूर्ण जीवन्मुक्त लक्षित होता है. वह न जीने की ही कामना करता है और न मरने की ही. वह मात्र एक आज्ञाकारी किंकर की तरह स्वामी-काल के आदेश की प्रतीक्षा में रहता है. वह सदा आँखों से

देखकर पद-विक्षेप, वस्त्र से पवित्रकर जल ग्रहण. सत्यमय वचन-प्रयोग एवं वचन निषिद्ध संकल्प रहित मन के अनुसार आचरण करता है. उस व्यक्ति में दूसरों के कटु-वाक्यों को सह लेने की अपूर्व क्षमता, सबों को सम्मान देने की प्रवृत्ति एवं विश्व मैत्री की हार्दिक अभिलाषा पाई जाती है. वह क्रोधी के प्रति भी शान्ति एवं निंदक के प्रति भी स्तुति की भावना से व्यवहार करता है. वह सप्तद्वारावकीर्ण अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन तथा बुद्धि विषयक अनृत-बातों का परिहार कर ब्रह्म विषयक वाणी का ही प्रयोग करना अपेक्षित मानता है. वह परिव्राजक ब्रह्मभाव में लीन, योगासनस्थिति, निरपेक्ष, निरामिष एवं आत्म-साहाय्य से ही मोक्ष-सुख की कामना रखता हुआ, इस संसार में विचरण करता है.

ब्रह्मलीन विरक्त साधु के लिये मनु ने भूकम्प आदि उत्पातों की संभावना, अंगस्फुरण आदि के फल, सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार हस्तरेखा आदि के परिणाम, यहाँ तक कि शास्त्रोपदेश आदि के कथन द्वारा भी भिक्षा प्राप्ति करने की प्रवृत्ति की निन्दा की है.

साधुओं को भिक्षा के लिये जाते समय सावधान करते हुए मनु ने स्पष्ट कह दिया है कि जिस दरवाजे पर अन्य तपस्वी, भोजनार्थी, ब्राह्मण, यहां तक कि पक्षी, कुत्ते अथवा क्षुद्रातिक्षुद्र कोई याचक भी खड़ा हो तो वहां कभी भी जाना उचित नहीं. मुनि का भिक्षा पात्र तुम्बी, काष्ठ, मृत्तिका अथवा बांस आदि के खण्ड से निर्मित एवं निश्छिद्र होना चाहिए. विषयासक्ति से बचने के लिये साधु को दिन में एक बार ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए.

साधु के भिक्षा-ग्रहण-काल का स्पष्टीकरण करते हुए मनु ने साफ-साफ बतला दिया है कि जब रसोई की उष्णता समाप्त हो चुकी हो, मूसल कूटने का शब्द तक न सुनाई देता हो, रसोई की आग भी बुझ चुकी हो एवं प्राय: सब लोग भोजन भी कर चुके हों तब साधु को भिक्षा ग्रहण के लिये प्रस्थान करना चाहिए. भोजन के मिल जाने पर तपस्वी प्रसन्न हो और न अप्राप्ति की स्थिति में दुखी हो. दाता में ममत्व की प्रवृत्ति से बचने के लिये साधु सत्कार पूर्वक दी गई भिक्षा को स्वीकार न करे.

तपस्वी को सदा जन्म-मरण, सुख-दुःख, जरा व्याधि आदि के कारणों पर विचार करते हुए, सभी प्राणियों में समदृष्टि के साथ ही स्वधर्माचरण में प्रवृत्त होना चाहिए. उसे चाहिए कि अपने शरीर को क्लेश पहुँचाकर भी चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं की रक्षा के लिये दिन अथवा रात में भी भूमि को देखकर विचरण करे. पर, इसके बाद भी यदि उससे अज्ञान-वश हिंसा हो ही जाए, तो वह उसके प्रायश्चित-स्वरूप छः प्राणायाम करे. सप्त व्याहृतियों एवं प्रणवों से युक्त विधिवत किये गए तीन प्राणायाम भी ब्राह्मण का श्रेष्ठ तप जानना चाहिए. यहां उस ब्रह्मलीन यति के लिए प्राणायाम के द्वारा रागादि दोषों का, ब्रह्मनिष्ठ मन की धारणा से पापों का, इन्द्रियों का निग्रह कर विषय-संसर्ग का एवं ध्यान के द्वारा क्रोधादि अनीश्वर गुणों का दहन करना आवश्यक बतलाया गया है.

पर यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि संन्यासी के उपर्युक्त विशेष धर्म का विधान करते हुए भी मनु ने मनुष्य के साधारण धर्म धृति, क्षमा, दम, अस्तेय आदि की भी अपेक्षा बतलाया है. यद्यपि मनु के विचार में उपर्युक्त सभी उपाय मुनि को सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने में सहायक होने के ही कारण बाह्य हैं. क्योंकि कर्म-बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन ही है. यदि सम्यग्दर्शन अर्थात् समत्वभाव की जागृति यति में नहीं हुई तो अन्य सभी बाह्यआचार आडम्बर मात्र ही रह जायेंगे. वे किसी भी स्थिति में यति को मोक्ष की प्राप्ति कराकर धर्म के कारण नहीं हो सकते. यही कारण है कि उपर्युक्त सभी मुनि के आचारों का स्पष्टीकरण करते हुए भी मनु ने समत्व प्राप्ति पर ही अधिक जोर दिया है और उसके विना सभी परिश्रम व्यर्थ घोषित कर दिये हैं.

इसी प्रकार मनु ने बहूदक, हंस, परमहंस कुटीचक संज्ञक सभी प्रकार के संन्यासियों के आचार एवं नित्यचर्या आदि गिनाये हैं. पर, इन सबों के सामान्य धर्म एवं आचार में कोई विशेष अन्तर नहीं रखा है. अर्थात् ऊपर वर्णित परिव्राजक के आचार ही सामान्य रूप से सबों के लिये अनुकरणीय हैं ऐसा माना है. केवल कुटीचक के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें

कही हैं. इस कोटि का यति अपने पुत्र के आश्रय में ही रहकर भोजन, वस्त्रादि जीविका की चिन्ता से मुक्त हुआ मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करता है.

मूलाचार और साधु[1] आचार

आचार्य बट्टकेर ने मनु की तरह मुनि बनने के लिये न तो कोई आयु-सीमा ही निर्धारित की है और न उनके लिये मुनि बनने से पूर्व गृहस्थाश्रमी बनना ही आवश्यक माना है. उनकी दृष्टि में जिस व्यक्ति के हृदय में कामभोग की अभिलाषा समाप्त हो चुकी हो, जिसकी बुद्धि धर्माभिमुख हो, वही विरक्त कर्मवीर पुरुष निर्माल्य-पुष्प की तरह गृहवास त्याग कर साधु-धर्म स्वीकार कर सकता है. अर्थात् जिस व्यक्ति में उपर्युक्त विशेषताएँ नहीं आ पाई हैं, वह चाहे किसी भी आयु का क्यों न हो, वह यति-धर्म का अधिकारी, अनगार नहीं कहला सकता.

सत्य, अहिंसा, अदत्त-परिवर्जन, ब्रह्मचर्य तथा त्रिगुप्तियों में नित्य प्रवृत्ति एवं परिग्रह से निवृत्ति को आचार्य ने साधु के मूल गुण माने हैं. मुनि के लिये मिथ्यात्व, राग, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, आदि ग्रंथियों से मुक्त होकर यथाजात रूप अर्थात् दिगम्बरत्व स्वीकार कर जिन-प्रणीत धर्म में अनुरक्त रहना अनिवार्य बताया गया है. उनकी राय में साधु सदा निरीह, निष्काम भाव से जीवन-यापन करते हैं, एवं उन्हें इस पंच तत्त्व निर्मित अपने शरीर में किसी तरह की ममता नहीं रहती.

आचार्य ने साधु के आवास-काल एवं आवास-स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं :

साधु के लिए आश्रय लेने का समय सूर्यास्तकाल ही है. वह काल जहां कहीं भी प्राप्त हो जाए. पर, ध्यान यह रहे कि वह आवास भी घर से बाहर हो, घर में नहीं. अनगारों के लिए ग्रामवास एवं नगरवास की सीमा आचार्य ने क्रमशः एक रात और पांच दिन निर्धारित की है. मुनि की उपमा गन्धहस्ति से देते हुए उनके लिए एकान्तवासी होकर ही मुक्ति सुख का अनुभवन करना आवश्यक बताया गया है. एकान्त स्थानों में सामान्यत, गिरि-कन्दरा, शून्य-गृह, पर्वत श्मशानादि के नाम गिनाये गये हैं.

मुनि की चर्या, विहार, भिक्षा आदि के सम्बन्ध में आचार्य बट्टकेर के निम्नलिखित आदेश हैं :

मुनि पर्वत की गुफाओं में वीरासनादि से अथवा एकपार्श्वशायी रहकर रात्रि व्यतीत करे. उसे वायु की तरह मुक्त, निरपेक्ष एवं स्वच्छन्द होकर ग्राम, नगर, आदि से मण्डित इस पृथ्वी पर परिभ्रमण करना चाहिए. पर विहार करते समय मुनि सतत, सचेष्ट रहे कि कहीं उसकी असावधानी से किसी जीव को क्लेश न पहुंचे. उसे जीवों के प्रति अनुक्षण सतर्क एवं दयार्द्र-दृष्टि रखनी चाहिए. मुनि के लिए, जीवों के सभी पर्याय एवं अजीव अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि के स्वरूप, सभेद पर्याय आदि का ज्ञान प्राप्त कर ही सावद्य वस्तुओं का त्याग एवं अनवद्य का ग्रहण करना कर्त्तव्य है. यति तृण, वृक्ष, छाल, पत्र, कन्द, मूल, फल आदि के छेदन करने तथा कराने दोनों ही से अलग रहे. साधु को पृथ्वी का खनन, उत्कीर्णन, चूर्णन, सेवन, उत्कर्षण, बीजन, ज्वालन, मर्दन, आदि कार्यों से दूर रहना चाहिए. इतना ही नहीं, वह इन कार्यों को दूसरे से भी न करावे और न दूसरे के किये हुए का अनुमोदन ही करे.

श्रमण-साधुओं के लिये दण्डधारण का सर्वथा निषेध किया गया है. बट्टकेर के मतानुसार साधु को शस्त्र, दण्ड आदि का पूर्णतः त्यागकर सभी प्राणियों में समभाव रखते हुए आत्म-चिन्तनशील होना चाहिए. उसे छठे, आठवें, दसवें, बारहवें आदि भक्तों पर पारणा करना चाहिए और वह भी दूसरों के घर भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न से, न कि अपने लिए बनाये, बनवाये या बनाने की सहमति से प्राप्त अन्न से. और वह पारणा भी रसास्वादन के लिये नहीं, अपितु चरित्र-साधना के लिये विहित है.

आचार्य ने किसी के पात्र में वा अपने हाथ से लेकर अथवा किसी तरह के दोष से युक्त भोजन, मुनि के लिए सर्वथा

---

[1] देखिये मूल० अनगारभावनाधिकार.

त्याज्य कहा है. वह भोजन यदि परम विशुद्ध तथा सभी दोषों से मुक्त हो और वह भी अन्य के द्वारा पाणिपात्र में ही दिया जाए तब मुनि उसे ग्रहण करे, ऐसा आचार्य का मत है.

यति के द्वारा भिक्षा निमित्त हिंडन की ओर ग्रन्थकर्त्ता (आचार्य बट्टकेर) ने ध्यान आकृष्ट करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि साधु विना यह जाने हुए अमुक स्थान में गृहस्थ उसकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, अतः वहां उसका स्वागत होगा तथा अमुक दिशा में उसकी उपेक्षा होगी, सामान्य रूप से घर के कतारों से उच्च-नीच, धनी, दरिद्र आदि को समान दृष्टि से देखता हुआ भिक्षा ग्रहण करे. उसके लिये शीतल, उष्ण, रुक्ष, स्निग्ध आदि का विना विचार किये ही अस्वादपूर्वक भोजन स्वीकार करना कर्त्तव्य है. क्योंकि मुनि इस पंचतत्त्व से निर्मित शरीर का धारण धर्म-पालन के निमित्त तथा धर्म पालन व मुक्ति-प्राप्ति-हेतु करता है. अतः भिक्षा-ग्रहण का एक मात्र लक्ष्य शरीर-धारण करना ही है और कुछ नहीं. श्रमण मुनि न भिक्षा प्राप्त होने पर संतुष्ट और न उसकी अप्राप्ति की स्थिति में असंतुष्ट ही होता है. उसके लिये ये दोनों ही स्थितियाँ समान हैं. इस कारण वह सदा मध्यस्थ एवं अनाकुल रूप से विहार करता है. वह कभी भी किसी गृहस्थ से दीनतापूर्वक भिक्षा की याचना नहीं करता. ऐसी स्थिति में उसे खाली हाथ भी लौटना पड़ सकता है, पर वह निर्विकार चित्त कभी मौन भंग नहीं करता. वह भोजन स्वीकार करने के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी रखता है. बासी, विवर्ण, तथा अप्रासुक अन्न उसे कभी ग्राह्य नहीं होता.

साधु के उपर्युक्त प्रकार से भोजन, आचरणादि का वर्णन करते हुए आचार्य ने उसकी शास्त्रीय योग्यता पर भी जोर दिया है. उनके अनुसार साधु को केवल भोजन आदि की ही शुद्धि नहीं अपितु ज्ञान की शुद्धि भी रखनी चाहिए. विवेकी मुनि के लिये आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि का ज्ञान होना आवश्यक है. वे यति के लिये, स्वभावतः आचार्य उपाध्याय आदि के उपदेशों को धारण-ग्रहण करने में समर्थ, तदनुसार अक्षरशः आचरण करने वाला, बीजबुद्धि (अर्थात् किसी भी विषय को एकाध बीजरूप प्रधान अक्षरों को सुन लेने पर ही समस्त रूप से समझने वाला), और श्रुतों में पारगामी विद्वान् होना अनिवार्य मानते हैं. पर इस ज्ञान-गरिमा के बाद भी श्रमण को मान-रहित, अगर्वित, क्रोधरहित, मृदु स्वभावी, स्व-परसमयविद् एवं विनीत होना चाहिए, आचार्य का लक्ष्य यहां तक है.

साधु के लिए शरीर का संस्कार निषिद्ध है. वह मुख, दांत, नयन, पैर आदि तक नहीं धोते, अर्थात् किसी तरह का भी बाह्यमार्जन उनके लिए विहित नहीं. यहां तक कि शरीर में यदि किसी तरह की कष्टकर व्याधि भी हो जाए, तब भी श्रमण-साधु उसे मौनपूर्वक सहन ही कर ले, पर किसी तरह की चिकित्सा न करावे यह आचार्य का मत है.

साधु अपनी पूर्वावस्था में की गयी रति-क्रीड़ा अथवा धन-जन आदि के विविध भोगों का न स्मरण ही करे और न उसे दूसरों के प्रति कथन ही. उसके द्वारा किसी भी स्थिति में धर्म-विरोधी अथवा विनय-विहीन भाषा का प्रयोग निन्द्य है. साधु आँखों से देखता हुआ तथा कानों से सुनता हुआ भी मूक होकर विहार करे तथा कभी भी लौकिक कथाओं में प्रवृत्त न हो, यह आचार्य की आज्ञा है.

आचार्य मुनि के लिये कठोर तपस्या के पक्षपाती हैं. वे संभवतया आत्मा के साक्षात्कार में इस शरीर के प्रति अनुरक्ति को ही प्रधान बाधा मानते हैं. इस कारण यथासंभव तप के द्वारा इस स्थूल शरीर को जर्जरित करते रहना ही आत्म-बोध में सहायक सिद्ध हो सकता है, इस ओर उनका संकेत है.

अब उपर्युक्तरूप से साधु-आचार के सम्बन्ध में राजर्षि मनु तथा आचार्य बट्टकेर के विचारों के अवलोकन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू तथा जैन दोनों ही सम्प्रदायों के साधु अन्तः तथा बाह्य दोनों ही दृष्टियों से एक दूसरे के अत्यन्त सन्निकट है एवं परस्पर प्रभावित भी हैं. वस्तुतः सदाचरण और सहानुभूति ही साधु-जीवन के आधार-स्तम्भ एवं मानदण्ड हैं. तार्किक बुद्धि के द्वारा शास्त्रज्ञ किसी तथ्य का केवल ऊहापोह करता है. किन्तु उस ज्ञान को अपने जीवन में उतारना वह नहीं जानता. साधु उस ज्ञान को अपने जीवन का आदर्श बनाता है और अपना समग्र आचरण उसी भित्ति पर खड़ा करता है. यही कारण है कि इन साधुओं में वर्ग-भिन्नता रहने पर भी आचरण-भिन्नता केवल नाम मात्र की और ऊपरी ही होती है, वास्तविक नहीं. ★